धार्मिक सहिष्णुता और जैन धर्म

-डॉ. सागरमल जैन

धार्मिक सहिष्णुता - आज की आवश्यकता

आज का युग बौद्धिक विकास और वैज्ञानिक प्रगति का युग है। मनुष्य के बौद्धिक विकास ने उसकी तार्किकता को पैदा किया है। आज मनुष्य प्रत्येक समस्या पर तार्किक दृष्टि से विचार करता है, किन्तु दुर्भाग्य यह है कि इस बौद्धिक विकास के बावजूद भी अंधविश्वास और धनवादिता बराबर कायम है तथा दूसरी ओर वैचारिक संघर्ष को अपनी चर्चा सीमा पर पहुँच गया है। धार्मिक एवं राजनीतिक साम्राज्यविद्या आज जनता के मानस को उन्मादी बना रही है कहीं धर्म के नाम पर, कहीं राजनीतिक विचारधाराओं के नाम पर, कहीं धर्मी और निर्धन के नाम पर, कहीं जातिवाद के नाम पर, कहीं काले और गोरे के भेद को लेकर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की दीवारें खोली जा रही हैं। आज प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय, प्रत्येक राजनीतिक दल और प्रत्येक वर्ग अपने हितों की सुरक्षा के लिए दूसरे के अस्तित्व को समाप्त करने पर तुलना हुआ है। सब अपने को मानव-कल्याण का एकमात्र देखेदार मानकर अपनी सत्यता का दावा कर रहे हैं और दूसरे को भ्रान्त और भ्रष्ट बता रहे हैं। मनुष्य की असहिष्णुता की वृत्ति मनुष्य के मानस को उन्मादी बनाकर पारस्परिक पृथक, विद्धयत और विखािव के बीच बो रही है। एक और हम प्रगति की बात करते हैं तो दूसरी ओर मनुष्य-मनुष्य के बीच दीवार खड़ी करते हैं। ‘इंकार’ इसी बात को लेकर पूरे हैं -

फिक्के बन्दी है कहीं और कहीं जाते हैं?
क्या जमाने में पनपने की यहीं बात हैं?

यद्यपि वैज्ञानिक तकनीक से प्राप्त आवागमन के सूलभ साधनों ने आज विश्व की दूरी को कम कर दिया है, हमारा संसार सिमट रहा है, किन्तु आज मनुष्य-मनुष्य के बीच हड़ताल की दूरी कहीं अधिक (ज्यादा) हो रही है। वैयक्तिक स्वार्थलिप्ता के कारण मनुष्य एक दूसरे से कड़ा चला जा रहा है। आज विश्व का वातावरण तनावपूर्ण एवं विद्धयत है। एक और इज़रायल और अरब में यहूदी और मुसलमान लड़-रहे हैं, तो

धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म: 1
दूसरी ओर इस्लाम धर्म के ही दो सम्प्रदाय शिया और सुन्नी इराक और ईरान में लड़ रहे हैं। भारत में भी कहीं हिन्दू और मुसलमानों को, तो कहीं हिन्दू और सिखों को एक दूसरे के बिना लड़ने के लिए उभाड़ा जा रहा है। अफ़्रीका में काले और गोरे का संघर्ष चल रहा है, तो साम्प्रदायिक रूस और पूर्वीवादियों संयुक्त राष्ट्र अमेरिका एक दूसरे को नेतृत्व करने पर तुलना हुई है। आज मानवता उस क़ग़ार पर आकर खड़ी हो गई है जहाँ से उसने यदि अपना रास्ता नहीं बदला तो उसका सर्वनाश निकट ह।
‘इक्बाल’ स्पष्ट शब्दों में हमें चेतावनी देते हुए कहते हैं –

अगर अब भी न समझोगे तो मिट जाओगे दुनिया से।
तुम्हारी दास्ताँ तब भी न होगी दास्ताँ में।

विज्ञान और तकनीक की प्रगति के नाम पर हमने मानवजाति के लिए विनाश की चित्रा तैयार कर ली है। यदि मनुष्य की इस उमादी प्रवृत्ति पर कोई अंकुश नहीं लगा तो कोई भी छोटी सी घटना इस चित्रा को चिनगारी दे देगी और तब हम सब अपने हाथों तैयार की इस चित्रा में जलने को मजबूर हो जायेगे। असहिष्णुता और वर्ग-विद्रोह –फिर चढ़े वह धर्म के नाम पर हो, राजनीति के नाम पर हो, राज्यवाद के नाम पर हो या साम्प्रदायिकता के नाम पर– हमें विनाश के गर्दी की ओर ही लिये जा रहे हैं। आज की इस स्थिति के सम्बन्ध में उद्दी के शायर ‘चक्कस्ता’ ने ठीक ही कहा है –

मिटेगा दीन भी और आबरु भी जाएगी।
तुम्हारे नाम से दुनिया को शर्म आएगी।

अतः आज एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता है जो मानवता को दुराग्रह और मतान्युता से ऊपर उठाकर सत्य को समझने के लिए एक समग्र दृष्टि दे सके, ताकि वर्तमान हितों से ऊपर उठाकर समग्र मानवता के कल्याण की प्राथमिकता दी जा सके।

धार्मिक मतान्युता क्यों?
धर्म को अंग्रेजी में ‘रिलीजन’ (Religion) कहा जाता है। रिलीजन शब्द रि+लीजर से बना है। इसका शाब्दिक अर्थ होता है–फिर से जोड़ देना। धर्म मनुष्य को
मनुष्य से और आत्मा को परस्पर से जोड़ने की कला है। धर्म का अवतरण मनुष्य को शाश्वत शान्ति और सुख देने के लिए हुआ है, किन्तु हमारी मतान्तरता और उभादी वृत्ति के कारण धर्म के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की दीवारें खड़ी की गयी और उसे एक दूसरे का प्रतिस्पर्धी बना दिया गया। मानव जाति के इतिहास में जितने युद्ध और संघर्ष हुए हैं, उनमें धार्मिक मतान्तरता एक बहुत बड़ा कारण रही है। धर्म के नाम ने अनेक बार खुल की होती खेली है और आज भी खेल रहा है। विश्व-इतिहास का अध्येता इस बात को भलीभूति जानता है कि धार्मिक असहिष्णुता ने विश्व में जयन्त दुख्सृत्य कराये हैं। आश्चर्य तो यह है कि दमन, अत्याचार, नूरसंसता और रक्त-प्लावन की इन घटनाओं का धर्म का जमा पहनाया गया और ऐसे मुद्दों को धर्मयुद्ध कहकर मनुष्य को एक दूसरे के विरुद्ध उभारा गया। शान्ति, सेवा और समन्वय का प्रतीक धर्म ही अशान्ति, तिरस्कार और वर्ग-विवेचक का कारण बना।

यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए हि धर्म के नाम पर जो कुछ किया या कराया जाता है, वह सब धार्मिक नहीं होता। इन सबके पीछे वस्तुतः धर्म नहीं, धर्म के नाम पर पलने वाली व्यक्ति की स्वार्थपनता काम करती है। वस्तुतः कुछ लोग अपने शृंखल स्वार्थों की पूर्ति के लिए मनुष्यों को धर्म के नाम पर एक दूसरे के विरोध में खड़ा कर देते हैं। धर्म भावना-प्रधान हैं और भावनाओं को उभारना सहज होता है। अतः धर्म ही एक ऐसा माध्यम है जिसके नाम पर मनुष्यों को एक दूसरे के विरुद्ध जल्दी उभारा जा सकता है। इसीलिए मतान्तरता, उभादी और स्वार्थीत्व ने धर्म को सदैव ही अपने हितों की पूर्ति का साधन बनाया है। जो धर्म मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने के लिए था, उसी धर्म के नाम पर अपने से विरोधी धर्मवादियों को उपीक्षित करने और उस पर अत्याचार करने के प्रयत्न हुए हैं और हो रहे हैं। किन्तु धर्म के नाम पर हिंसा, संघर्ष और वर्ग-विवेचन की जो भावनाएँ उभारी जा रही हैं, उसका कारण क्या धर्म है? वस्तुतः धर्म नहीं, अपितु धर्म का आवरण दालकर मानव की महत्वकांश, उसका अंतर्कार और उसकी शृंखल स्वार्थपनता ही यह सब कुछ करवाने रही है। यथार्थ में यह धर्म का नकार डाले हुए अधर्म ही है।

धर्म के सारतत्त्व का ज्ञान-मतान्तर के मुक्ति का मार्ग

दुर्भाग्य यह है कि आज जनसामान्य— जिसे धर्म के नाम पर सहज ही उभारा जाता है—धर्म के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ज है, वह धर्म के मूल हार्द को नहीं समझ पाया है। उसकी दृष्टि में कुछ कर्मकाण्ड और रीतिरिवाज ही धर्म है। हमारा दुर्भाग्य यह है कि हमारे तथाकथित धार्मिक नेताओं ने हमें धर्म के मूल हार्द से अनभिज्ज रखकर, इन धार्मिक सहिष्णुता और जेनरलधर्म: 3
रीतिरूपों और कर्मकाण्डों को ही धर्म कहकर समझाया है। वस्तुतः आज आदर्शकता
इस बातः कि मनुष्य धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझे। आज मानव समाज के
sमक्ष धर्म के उस सार्थकता तत्त्व को प्रस्तुत किये जाने की आवश्यकता है, जो सभी धर्मों
में सामान्यतया उपस्थित है और उनकी मूलभूत एकता का सूक्ष्म है। आज धर्म के मूल
हार्दिक हार्दिक वास्तविक स्वरूप को समझे बिना हमारी धार्मिकता सुरक्षित नहीं रह सकती है।
यदि आज धर्म के नाम पर विभाजित होती हुई इस मानवता की पुन: जोड़ना है तो हर्दिक धर्म
के उन मूलभूत तत्त्वों को सामने लाना होगा, जिनके आधार पर इन दूसरी हुई कड़ियों
को पुनः जोड़ा जा सके।

धर्म का पर्याय

वह सत्य है कि आज विश्व में अनेक धर्म प्रचलित हैं। किन्तु यदि हम
gम्भीरतापूर्वक विचार करें तो इन विविध धर्मों का मूलभूत लक्ष्य है - मनुष्य को एक
अच्छे मनुष्य के रूप में विकसित कर उसे परमात्मा तत्त्व की ओर ले जाना। जब तक
मनुष्य, मनुष्य नहीं बनता और उसकी यह मनुष्यता देवता की ओर अग्रसर नहीं होती, तब
tक तब धार्मिक नहीं कहा जा सकता। यदि मनुष्य में मानवीय गुणों का विकास ही नहीं
hुआ है तो वह किसी भी स्थिति में धार्मिक नहीं है।
‘अमन’ ने ठीक ही कहा है -

इन्सानियत से जिसने बशर को गिरा दिया।
या रब! वह बन्दगी हुई या अवतारी हुई।

मानवता के बिना धार्मिकता असभ्य है। मानवता धार्मिकता का प्रथम चरण है।
मानवता का अर्थ है- मनुष्य में विवेक विकसित हो, वह अपने विचारों, भावनाओं और
hितों पर संयम रख सके तथा अपने साथी प्राणियों के सुख-दुःख समझ सके। यदि यह
sब उसमें नहीं है तो वह मनुष्य ही नहीं है, तो फिर उसके धार्मिक होने का प्रस्ताव नहीं
उठता, क्योंकि कोई पशु धार्मिक या अधार्मिक नहीं होता, मनुष्य ही धार्मिक या अधार्मिक
hोता है। यदि मानवीय शरीर को धारण करने वाला व्यक्ति अपने पशुत्व से ऊपर नहीं उठ पा
या है तो उसके धार्मिक होने का प्रस्ताव तो हुआ है। मानवीयता धार्मिकता
की प्रथम सीढ़ियाँ है। उसे पा किये विना कोई धर्ममार्ग में प्रवेश नहीं कर सकता। मनुष्य का
प्रथम धर्म मानवता है।

धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म: 4
वस्तुतः यदि हम जैनधर्म की भाषा में धर्म को वस्तु का स्वभाव मानें, तो हमें समग्र चेतनसत्ता के मूल स्वभाव को ही धर्म कहना होगा। भगवती सूत्र में आत्मा का स्वभाव समता या समभाव कहा गया है। उसमें गणधर गौतम भगवानु महावीर से प्रश्न करते हैं कि आत्मा क्या हैं और आत्मा का साध्य क्या है दृश्यतां में भगवानु कहते हैं - आत्मा सामाजिक (समत-वृत्ति) रूप है और उस समत्वभाव को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है।\(^1\) आचार्य\(^2\) भी समभाव को ही धर्म कहता है। सभी धर्मों का सार समता तथा शान्ति है मनुष्य में निहत काम, क्रोध, अहंकार, लोभ और उनके जनक राग-द्वेष और तृष्णा को समाप्त करना ही सभी धार्मिक साधनाओं का मूलभूत लक्ष्य रहा है। इस समय में श्री सत्याचार्यजी गोयनका के निमंत्र विचार द्वारा हैं - 'क्रोध, ईघ्य, द्वेष आदि न हिंदू हैं, न बौद्ध, न जैन, न पारसी, न मुस्लिम, न ईसाई। वैसे इसने विमुक्त रहना भी न हिंदू है न बौद्ध; न जैन है न पारसी; न मुस्लिम है न ईसाई। विकारों से विमुक्त रहना ही शुद्ध धर्म है। क्या शीलवान, समाधिवान और प्रज्ञावान होना केवल बौद्धों का ही धर्म है? क्या वैद्यक, वैदेश और वैतृत्य होना जैनों का ही धर्म है? क्या स्थिरप्रज्ज्ञ अनासक्त, जीवनन्वृत्त होना हिंदुओं का ही धर्म है? धर्म की इस शुद्धता को समझो और उसे धारण करें। (धर्म के क्षेत्र में)निंसार छिलकों का अवमूल्य हो, उम्मूल्य हो; शुद्धता का मूल्यांकन हो, प्रतिद्यापन हो।\(^3\) जब यह स्थिति आयेगी, धार्मिक सहिष्णुता पहज ही प्रकट होगी।

साधनागत विविधता - असहिष्णुता का आधार नहीं

तृष्णा, राग-द्वेष और अहंकार अधर्म के बीज हैं। इनसे मानसिक और सामाजिक समभाव भंग होता है। अतः इनके निरक्षर को सभी धार्मिक साधना पद्धतियाँ अपना लक्ष्य बनाती है, किन्तु मनुष्य का अहंकार, मनुष्य का ममत्व कैसे समझा हो, उसकी तृष्णा या आसक्ति का उभृद्ध कैसे हो - इस साधनात्मक पक्ष को लेकर ही विचार-भेद प्रारंभ होता है। कोई परमात्मा या ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण में ही आसक्ति, ममत्व और अहंकार के विसर्जन का उपाय देखता है तो कोई उसके लिए जगतु की दुःखमयता, पदार्थों की क्षणिकता और अनात्मता का उपदेश देता है, तो कोई उस आसक्ति या रागभाव की विमुक्ति के लिए आत्म और अनात्म अर्थात स्व-पर के विवेक को धार्मिक साधना का प्रमुख अंग मानता है। वस्तुतः यह साधनात्मक भेद ही धर्म की अनेकता का

धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म: 5
कारण है। यद्यपि यह अनेकता धार्मिक असहिष्णुता या विरोध का कारण नहीं बन सकता। आचार्य हरिभद्र ने योगदानिःसूत्रम् में धार्मिक साधना की विविधताओं का सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं -

यद्य तत्तन्त्यापेक्षा तत्कालादिनियोगतः।
ऋषिभ्यो देशाना चिन्ता तम्मूलेशापि तत्त्वः।

अर्थात् प्रत्येक ऋषि अपने देश, काल और परीक्षिति के आधार पर भिन्न-भिन्न धर्ममार्ग का प्रतिपादन करते हैं। देश और कालगत विविधताएँ तथा साधनों की रूचि और स्वभावगत विविधताएँ धार्मिक साधनाओं की विविधताओं का आधार है, यद्यपि इस विविधता को धार्मिक असहिष्णुता का कारण नहीं बनाने का चाहिए। जिस प्रकार एक ही नगर को जाने वाले विविध मार्ग परस्पर भिन्न-भिन्न दिशाओं में स्थित होकर भी विरोधी नहीं कहे जाते हैं; एक ही केन्द्र को योजित होने वाली परिधि से खाँची गयी विविधरेखाएँ चाहें बाहा रूप से विरोधी दिखाई दें, किंतु यथार्थतः उनमें कोई विरोधी नहीं होता है; उसी प्रकार परस्पर भिन्न-भिन्न आचार विचार वाले धर्मवाचक भी वस्तुतः विरोधी नहीं होते। यह एक गणितीय सत्य है कि एक केन्द्र से योजित होने वाली परिधि से खाँची गयी अनेक रेखाएँ एक-दूसरे को अन्य की आकृति नहीं रखती हैं; क्योंकि उन सबका साध्य एक ही होता है। वस्तुतः उनमें एक-दूसरे को काटने की क्षमता भी होती है जब वे अपने केन्द्र का परिमाण कर देते हैं। यही वात धर्म के सम्बन्ध में भी सत्य है। एक ही साध्य की ओर उन्मुख बाहर से परस्पर विरोधी दिखाई देने वाले अनेक साधना मार्ग तत्त्वः विरोधी नहीं होते हैं। यदि प्रत्येक धार्मिक साधन अपने अहंकार, राग-द्वेष और तृणा की प्रवृत्तियों को समाप्त करने के लिए, अपने काम, क्रोध और लोभ के निराकरण के लिए, अपने अहंकार और अभिमान के निरस्त्र के लिए साधनार्थ है, तो फिर उसकी साधना पद्धति चाहे जो हो, वह दूसरी साधना पद्धतियों का न तो विरोधी होगा और न ही असहिष्णु। यदि आर्थिक जीवन में साध्यरूपी अनेकता ही भी वह संरचना का कारण नहीं बन सकती। वस्तुतः: यहाँ हमें यह विचार करना है कि धर्म और समाज में धार्मिक असहिष्णुता का जन्म क्यों और कैसे होता है?

वस्तुतः: जब यह मान लिया जाता है कि हमारी एकमात्र साधना पद्धति ही व्यक्ति को अन्तिम साध्य तक पहुँचा सकती है तभी धार्मिक असहिष्णुता का जन्म होता है।

धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्मः 6
इसके स्थान पर यदि हम यह स्वीकार कर ले कि सभी साधना पद्धतियाँ साध्य तक पहुँचा सकती हैं, तो धार्मिक संधियों का केन्द्र सीमित हो जाता है। देश और कालगत विविधताएँ तथा व्यक्ति की अपनी कृति और योग्यता आदि ऐसे तत्त्व हैं, जिनके कारण साधनागत विविधताओं का होना स्वाभाविक है। वस्तुतः: जिससे व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास होता है, वे आचार के बाह्य विधि-निषेध या बाह्य औपचारिकताएँ या क्रियाकार्य नहीं, मूलतः: साधक की भावना या जीवन-दृष्टि है। प्राचीनतम जैन आगम आचारांग सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि-

जो आसवा ते परिस्वर्या, जे परिस्वर्या ते आसवा।

जो आसव अर्थात बन्धन के कारण हैं, वे ही परिस्वर्य अर्थात मुक्ति के कारण हैं, जो मुक्ति के कारण हैं, वे ही बन्धन के कारण बन सकते हैं। अनेक बार ऐसा होता है कि बाह्य रूप में हम जिसे अनैतिक और अधार्मिक कहते हैं, वह देश, काल, व्यक्ति और परस्परितियों के आधार पर नैतिक और धार्मिक हो जाता है। धार्मिक जीवन में साधना का बाह्य कलेवर इतना महत्वपूर्ण नहीं होता जितना उसके मूल में रही हुई व्यक्ति की भावनाएँ होती हैं। बाह्य रूप से किसी युवती की परिचयां करते हुए एक व्यक्ति अपनी मनोभूमिका के आधार पर धार्मिक हो सकते हैं, तो दूसरा अधार्मिक। वस्तुतः: परिचयां करते समय परिचयां की अपेक्षा भी जो अधिक महत्वपूर्ण है, वह उस परिचयां के मूल में निहित प्रयोजन, प्रेक्षा या मनोभूमिका होती है। एक व्यक्ति निष्काम भावना से किसी की सेवा करता है, तो दूसरा व्यक्ति अपनी वासनाओं अथवा अपने बुद्ध स्वरूप की पूर्णता के लिए किसी की सेवा करता है। बाहर से दोनों सेवाएँ एक हैं किंतु उनमें एक नैतिक और धार्मिक है, तो दूसरी अनैतिक और अधार्मिक। हम देखते हैं कि अनेकानेक लोग तौल्यक एष्ठाओं की पूर्णता के लिए प्रभु-भक्ति और सेवा करते हैं किंतु उनकी बाहर से धर्म का कारण न होकर अधर्म का कारण होता है। अतः: साधनागत बाह्य विभिन्नताओं को न तो धार्मिकता का सर्वस्व मानना चाहिए और न उन पर इतना अधिक बल दिया जाना चाहिए, जिससे परस्परिक विभेद और भिन्नता की खाई और गहरी हो। वस्तुतः: जब तक देश और कालगत भिन्नताएँ हैं, जब तक व्यक्ति की रूचि या स्वभावगत भिन्नताएँ हैं, तब तक साधनागत विभिन्नताएँ स्वाभाविक ही हैं। आचार्य हरिभद्द अपने ग्रन्थ योगदृष्टि समुच्चय में कहते हैं -

धार्मिक सहिष्णुता और जीनधर्म: 7
विचित्रता तु देशनैतेषां स्वाद विनेतायुगृष्ठशः।
यस्याद्विते महात्मनो भवव्याधि भिषाग्वरः॥१६॥

अर्थात् जिस प्रकार एक अच्छा वैद्य रोगी की प्रकृति, कःतु आदि को ध्यान में रखकर एक ही रोग के लिए दो व्यक्तियों को अलग-अलग औषधि प्रदान करता है, उसी प्रकार धर्ममार्ग के उपदेशा ऋषिगण भी भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले व्यक्तियों के लिए अलग-अलग साधनाविधि प्रस्तुत करते हैं। देश, काल और रूपवाद वैचित्र्य धार्मिक साधना पद्धतियों की विभिन्नता का आधार है। वह स्वभाविक है, अतः उसे अस्तित्वाकर भी नहीं किया जा सकता है। धर्मक्षेत्र में साधनागत विविधताएँ सदैव रही हैं और रहेंगी, किन्तु उन्हें विवाद का आधार नहीं बनाया जाना चाहिए।' हमें प्रत्येक साधना पद्धति की उपयोगिता और अनुयोगिता का मूल्यांकन उन परिस्थितियों में करना चाहिए जिसमें उनका ज्ञान होता है। उदाहरण के रूप में, मूर्तिपूजा का विधान और मूर्तिपूजा का निषेध दो भिन्न देशागत और कालगत परिस्थितियों की देन है और उनके पीछे विशिष्ट उद्देश्य रहे हुए हैं।

यदि हम उन संदर्भों में उनका मूल्यांकन करते हैं, तो इन दो विरोधी साधना पद्धतियों में भी हमें कोई विरोध नजर नहीं आयेगा। सभी धार्मिक साधना पद्धतियों का एक लक्ष्य होते हुए भी उनमें देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति के कारण साधनागत विभिन्नता में आए हैं। उदाहरण के रूप में, हिन्दू धर्म और इस्लाम दोनों में उपसना के पूर्व शारीरिक शुद्धि का विधान है। पिर भी दोनों की शारीरिक शुद्धि की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न हैं। मुसलमान अपनी शारीरिक शुद्धि इस प्रकार से करता है कि उसमें जल की अत्यत्त्म मात्रा का व्यय हो, वह हाथ और मुंह को नीचे से उपर की ओर धोता है कारण इसमें पानी की मात्रा कम खर्च होती है। इसके विपरीत हिन्दू अपने हाथ और मुंह उपर से नीचे की ओर धोता है। इसमें जल की मात्रा अधिक खर्च होती है। शारीरिक शुद्धि का लक्ष्य समान होते हुए भी अरब देशों में जल का अभाव होने के कारण एक पद्धति अपनाई गई, तो भारत में जल की बहुतता होने के कारण दूसरी पद्धति अपनाई गयी। अतः आचार के इन बाहरी रूपों को लेकर धार्मिकता के क्षेत्र में जो विवाद चलाया जाता है, वह उचित नहीं है। चाहे प्रसन्न मूर्तिपूजा का हो या अन्य कोई, हमें देखते हैं कि उन सभी के मूल में कहीं न कहीं देश, काल और व्यक्ति के रूपवाद वैचित्र्य का आधार होता है। इस्लाम ने चाहे कितना ही बुद्धि-प्रस्तुति का विरोध किया हो, किन्तु मुहर्रम, कब्र-पूजा आदि के नाम पर प्रकाशन ते
उसमें मूर्तिपूजा प्रविष्ट हो ही गयी है। इसी प्रकार इस्लाम एवं अन्य परिस्थितियों के प्रभाव से हिन्दू और जैन धर्म में अमूर्ति पूजक सम्पदायों का विकास हुआ। अतः धार्मिक जीवन की बाह्य आचार एवं रीति-रिवाज़ सम्बन्धी दैशिक, कालिक और वैयक्तिक भिन्नताओं की धर्म का मूलाधार न मानकर इन भिन्नताओं के प्रति एक उदार और व्यापक दृष्टिकोण रखना आवश्यक है। हमें इन सभी विभिन्नताओं को उनके उद्देश्य की मूलभूत परिस्थितियों में समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

शास्त्र की सत्यता का प्रश्न

धार्मिकता के क्षेत्र में अनेक बार यह विवाद भी प्रमुख हो जाता है कि हमारा धर्मशास्त्र ही सच्चा धर्मशास्त्र है और दूसरों का धर्मशास्त्र सच्चा और प्रभावैतिक नहीं है। इस विषय में प्रथम तो यह जान लेना चाहिए कि धर्मशास्त्र का मूल स्वरूप तो धर्म-प्रवृत्तिक के उपदेश ही होते हैं और सामान्यतया प्राचीन धर्मों में वे मौखिक ही रहे हैं। जिन्होंने उन्हें लिखित रूप दिया, वे देश और कालकाल परिस्थितियों से सत्यता अप्रभावित रहे हैं, वह कहना बड़ा कठिन है। महावीर के उपदेश उनके परीनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद लिखे गये - क्या इस कालावधि में उसमें कुछ घटाव- बढ़ाव नहीं हुआ होगा? न केवल यह प्रश्न जैन शास्त्रों का है अपितु हिन्दू और बौद्धधर्म के शास्त्रों का भी है। दुर्भाग्य से किसी भी धर्म का धर्मशास्त्र, उसके उपदेशा के जीवन काल में नहीं लिखा गया। न महावीर के जीवन में आगम लिखे गये, न हुदू के जीवन में त्रिपिटक लिखे गये, न ईसा के जीवन में बाइबिल और न मुहम्मद के जीवन में कुरान। पुनः यदि प्रत्येक धर्मशास्त्र में से दैशिक, कालिक और वैयक्तिक तथ्यों को अलग कर धर्म के उत्स या मूल तत्त्व को देखा जाये, तो उनमें बहुत बड़ी भिन्नता भी दृष्टिगोचर नहीं होती है। आचार के सामान्य नियम-हत्या मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, व्यभिचार मत करो, नशीले पदार्थ का सेवन मत करो, संघर्षमूर्ति से दूर रहो और अपने धन का दीन-दुर्दिन में उपयोग करो- ये सब वातें सभी धर्मों में समान रूप से प्रतिपादित हैं। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि हम इन मूलभूत आधार तत्त्वों को छोड़कर उन छोटी-छोटी बातों को ही अधिक पकड़ते हैं, जिनसे पारस्परिक भेद की खाई और गहरी होती है।

जैनों के सामने भी शास्त्र की सत्यता और असत्यता का प्रश्न आया था।

धार्मिक सहीणुद्वा और जैनधर्म: 9
किसी सीमा तक उन्होंने सम्यक्-श्रृंख्ला और मिथ्या-श्रृंखला के नाम पर तत्कालीन शास्त्रों का विवाहन भी कर लिया था, किंतु फिर भी उनकी दृष्टि संकुचित और अनुसार नहीं रही। उन्होंने ईमानदारीपूर्वक इस बात को स्वीकार कर लिया कि जो सम्यक्-श्रृंखला है, वह मिथ्या-श्रृंखला भी हो सकता है और जो मिथ्या-श्रृंखला है वह सम्यक्-श्रृंखला भी हो सकता है। श्रृंखला का सम्यक् होना या मिथ्या होना शास्त्र के शब्दों पर नहीं, अपितु उनके अर्थों और व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। जैन आचार्य स्वयं रूप से कहते हैं कि 'एक मिथ्यावृद्धि के लिए सम्यक्-श्रृंखला भी मिथ्या-श्रृंखला हो जाता है और एक सम्यक्-श्रृंखला के लिए मिथ्या-श्रृंखला भी सम्यक्-श्रृंखला हो जाता है। एक सम्यक्-श्रृंखला व्यक्ति मिथ्या-श्रृंखला में से भी अच्छा और सारतत्त्व ग्रहण कर लेता है, तो दूसरी ओर एक मिथ्यावृद्धि व्यक्ति सम्यक्-श्रृंखला में भी बुरा और कमियाँ देख सकता है।' अतः शास्त्र के सम्यक् और मिथ्या होने का प्रश्न मूलतः व्यक्ति के दृष्टिकोण पर निर्भर है। ग्रन्थ और इसमें लिखे शब्द तो जड़ होते हैं, उनके व्यक्तिगत करने वाला तो व्यक्ति का मनसू है। अतः श्रृंखला और मिथ्या नहीं होता है, सम्यक् या मिथ्या होता है उनसे अर्थ-बोध प्राप्त करने वाले व्यक्ति का मानसिक दृष्टिकोण। एक व्यक्ति सुन्दर में भी असुन्दर देखता है तो दूसरा व्यक्ति असुन्दर में भी सुन्दर देखता है। अतः यह विवाद निर्धारण और अनुपयोगी है कि हमारा शास्त्र ही सम्यक्-शास्त्र है और दृस्तर का शास्त्र मिथ्या-शास्त्र है। हम शास्त्र को जीवन से नहीं जोड़ते हैं अपितु उसे अपने-अपने दंग से व्यक्तिगत करके उस पर विचार-मेध के आधार पर विवाद करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु शास्त्र को जब भी व्यक्तिगत किया जाता है, वह देखा, काल और वैज्ञानिक रूप से अप्रभावित हुए बिना नहीं रहता। एक ही गीता को शंकर और रामानुज दो अलग-अलग दृष्टि से व्यक्तिगत कर सकते हैं। वहीं गीता तिलक, अरविंद और राधाकृष्णन के लिए अलग-अलग अर्थ की बोधक हो सकती है। अतः शास्त्र के नाम पर धार्मिक क्षेत्र में विवाद और अपरिहार्य को बढ़ावा देना उचित नहीं है। शास्त्र और शब्द जड़ है उससे जो अर्थबोध किया जाता है, वही महत्वपूर्ण है और यह अर्थबोध की प्रक्रिया श्रृंखला या पाठक की दृष्टि पर निर्भर करती है; अतः महत्व दृष्टि का है, शास्त्र के नीचे शब्दों का नहीं है। यदि दृष्टि उदार और व्यक्तिक हो, हमें नीर-शौर्य-विवेक हो और शास्त्र के चरणो को हम उस परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास करें जिसमें वे कहे गये हैं, तो हमारे विवाद का क्षेत्र सीमित हो जायेगा। जैनचार्यों ने नदीमूत्र में जो यह कहा कि सम्यक्-श्रृंखला व्यक्ति...
के लिए मिथ्या-श्रृत हो जाता है और मिथ्याश्रृत भी सम्यक दृष्टि के लिए सम्यक-श्रृत होता है-उसका मूल आशय यही है।

धार्मिक असहिष्णुता का बीज-रागात्मकता

धार्मिक असहिष्णुता का बीज तभी वपित होता है जब हम अपने धर्म या साधना-पद्धति को ही एकमात्र और अन्तिम मानने लगते हैं तथा अपने धर्म-गुरु को ही एकमात्र सत्य का द्रष्टा मान लेते हैं, तो यह अवधारणा ही धार्मिक वैमनस्त्या का मूल कारण बन जाती है।

वस्तुतः जब व्यक्ति की रागात्मकता धर्मप्रवर्तक, धर्ममार्ग और धर्मशास्त्र के साथ जुड़ती है, तो धार्मिक कदाचार हों और असहिष्णुता का जन्म होता है। जब हम अपने धर्म-प्रवर्तक को ही सत्य का एकमात्र द्रष्टा और उपदेशक मान लेते हैं, तो हमारे मन में दूसरे धर्मप्रवर्तकों के प्रति तिस्कार की धारणा विकसित होने लगती है। राग का तत्त्व जहाँ एक और व्यक्ति को किसी से जोड़ता है, वहीं दूसरी और वह उसे कहाँ से तोड़ता भी है। जैन परम्परा में धर्म के प्रति इस एकांकित रागात्मकता को दृष्टिगत कहा गया है और इस दृष्टिगत को व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में बाधक भी माना गया है। भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य एवं गणधर इन्द्रभूति गौतम को, जब तक भगवान् महावीर जीवित रहे, कैकल्य (सर्वज्ञता) की प्राप्ति नहीं हो सकी, वे वीरतागता को उपलब्ध नहीं कर पाये। आखिर ऐसा क्यों हुआ? वह कौन सा तत्त्व था जो गौतम की वीरतागता और सर्वज्ञता की प्राप्ति में बाधक बन रहा था? प्राचीन जैन साहित्य में यह उल्लिखित है कि एक बार इन्द्रभूति गौतम 500 शिष्यों को दीक्षित कर भगवान् महावीर के पास ला रहे थे। महावीर के पास पहुँचते-पहुँचते उनके वे सभी शिष्य वीरतागत और सर्वज्ञ हो चुके थे। गौतम को इस घटना से एक मानसिक खिलना हुई। वे विचार करते लगे कि जहाँ मेरे द्वारा दीक्षित मेरे शिष्य वीरतागत और सर्वज्ञता को उपलब्ध कर रहे हैं वहाँ में अभी भी इसका प्राप्त नहीं कर पा रहा हैं। उन्होंने अपनी इस समस्या को भगवान् महावीर के सामने प्रस्तुत किया। गौतम पूछते हैं- हे भगवान! ऐसा कौन सा कारण है, जो मेरी सर्वज्ञता या वीरतागता की प्राप्ति में बाधक बन रहा है? महावीर ने उत्तर दिया - हे गौतम! तुम्हारा मेरे प्रति जो रागभाव है वही तुम्हारी सर्वज्ञता और

धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म: 11
वीतरागता में बाधक है। जब तौरंकर महावीर के प्रति रहा हुआ राग भाव भी वीतरागता में बाधक हो सकता है तो फिर सामान्य धर्मगुरु और धर्मशास्त्र के प्रति हमारी रागात्मकता क्यों नहीं हमारे आध्यात्मिक विकास में बाधक होगी? यद्यपि जैन परम्परा धर्मगुरु और धर्मशास्त्र के प्रति ऐसी रागात्मकता को प्रसात-राग संज्ञा देते है किन्तु वह यह मानती है कि यह प्रसात-राग भी हमारे बन्धन का कारण हैं। राग राग है, फिर चाहे वह महावीर के प्रति क्यों न हों? जैन परम्परा का कहना है कि आध्यात्मिक विकास की सवृंच अवस्था को प्राप्त करने के लिए हमें इस रागात्मकता से भी ऊपर उठना होगा।

जैन कर्मसिद्धांत में मोह कर्म को बन्धन का प्रधान कारण माना गया है यह मोह दो प्रकार का है - (1). दर्शनमोह और (2). चारित्रमोह। (2). जैन आचार्यों ने दर्शन मोह को भी तीन भागों में बांटा है- सम्यक्त मोह, मिथ्यात्ममोह और मिश्रमोह। मिथ्यात्म मोह का अर्थ तो सहज ही हमें समझ में आ जाता है, मिथ्यात्म मोह का अर्थ है- मिथ्या सिद्धांतों और विश्वासों का आग्रह अर्थात् गलत सिद्धांतों और गलत आस्थाओं में विचकर होना, किंतु सम्यक्त मोह का अर्थ सामान्यतया हमारी समझ में नहीं आता है। सामान्यतया सम्यक्त मोह का अर्थ सम्यक्त का मोह अर्थात् सम्यक्त का आवश्यक- ऐसा किया जाता है किंतु ऐसी स्थिति में वह भी मिथ्यात्म का ही सूचक होता है। वस्तुतः सम्यक्त-मोह का अर्थ है- दृष्टिरूप अर्थात् अपनी धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों को ही एकमात्र सत्य समझना और अपने से विरोधी मान्यताओं और विश्वासों को असत्य मानना। जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि आध्यात्मिक पूर्णता या वीतरागता की उपलब्धि के लिए जहाँ मिथ्यात्म मोह का विनाश आवश्यक है वहाँ सम्यक्त मोह अर्थात् दृष्टिरूप से ऊपर उठना भी आवश्यक है। न केवल जैन परम्परा में अपितु बौद्ध परम्परा में भी भगवान् बुद्ध के अन्तर्वस्ति शिष्य आनन्द के सम्बन्ध में भी यह स्थिति है। आनन्द भी बुद्ध के जीवन काल में अर्हतु अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाये। बुद्ध के प्रति उनकी रागात्मकता ही उनके अर्हतु बनने में बाधक रही। चाहे वह इन्द्रभूति गौतम हो या आनन्द हो, यदि दृष्टिरूप क्षीण नहीं होता है, तो अर्हतु अवस्था की प्राप्ति सम्भव नहीं है। वीतरागता की उपलब्धि के लिए अपने धर्म और धर्मगुरु के प्रति भी रागभाव का त्याग करना होगा।

धार्मिक मतान्त्र को कम करने का उपाय- गुणोपासना

धार्मिक असहिष्णुता के कारणों में एक कारण यह है कि हम गुणों के स्थान पर व्यक्तियों से जुड़ने का प्रयास करते हैं। जब हमारी आस्था का केन्द्र या उपास्य आध्यात्मिक

धार्मिक सहिष्णुता और जैनसम्प्रदाय।
एवं नैतिक विकास की अवस्था विशेष न होकर व्यक्ति विशेष बन जाता है, तो फिर स्वभाविक रूप से ही आग्रह का पेरा खड़ा हो जाता है। हम मानने यह लगते हैं कि महावीर हमारे हैं, लुध हमारे नहीं। राम हमारे उपास्य हैं, कृष्ण या शिव हमारे उपास्य नहीं हैं।

अतः यदि हम व्यक्ति के स्थान पर आध्यात्मिक विकास की भूमिका विशेष को अपना उपास्य बनाये तो सम्भवतः हमारे आग्रह और मतभेद कम हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में जैनों का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही उदार रहा है। जैन-पारम्पर्य में निम्न नमस्कार मन्त्र को प्रस-पवित्र माना गया है।

नमो अरहतां। नमो सिद्धां।
नमो आयरियां। नमो उवज्ञायां।
नमो लोके सब्वसाहूं।

-भगवती 1/1

प्रत्येक जैन के लिए इसका पाठ आवश्यक है, किन्तु इसमें किसी व्यक्ति के नाम का उल्लेख नहीं है। इसमें जिन पाँच पदों की बदना की जाती है वे व्यक्तिवाचक न होकर गुणवाचक हैं। और, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु व्यक्ति नहीं हैं, वे आध्यात्मिक और नैतिक विकास की विभिन्न भूमिकाओं के सूचक हैं। प्राचीन जैनाचार्यों की दृष्टि कितनी उदार थी, वे उन योग्यों ने इन पाँचों पदों में किसी व्यक्ति का नाम नहीं जोड़ा। यही कारण है कि आज जैनों में अनेक सम्प्रदायगत मतभेद होते हुए भी नमस्कार मंत्र सर्वमान्य बना हुआ है। यदि उसमें कहीं व्यक्तियों के नाम जोड़ दिये जाते, तो सम्भवतः आज तक उसका स्वरूप न जाने कितना परिवर्तित और विकृत हो गया होता। नमस्कार महामंत्र जैनों की धार्मिक उदारता और सहिष्णुता का सबसे महत्वपूर्ण प्रमाण है। उसमें भी "नमो लोके सब्वसाहूं" यह पद तो धार्मिक उदारता का समूचा शिखर कहा जा सकता है। इसमें साधुक नहीं हैं वे लोक के सभी साधुओं को नमस्कार करता हैं। वस्तुतः जिसमें भी साधुत्व या मुनित्व है वह वननीय है। इसमें साधुत्व को जैन या बौद्ध आदि किसी धर्म या किसी सम्प्रदाय के साथ जोड़कर गुणों के साथ जोड़ा जाता है। साधुत्व, मुनित्व या श्रमणत्व वेश या व्यक्ति नहीं हैं, वरन् एक आध्यात्मिक विकास की भूमिका है, एक स्थिति है वह कहीं भी और किसी भी व्यक्ति में हो सकती है।

धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म: 13
उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि -

न वि मुंडिणए समयो, न ओकारेरे बबणो।
न मुणी रणवासेण, कुस्चीरण न तावसो॥
समयाय समयो होइ, बंभचेरण बबणो।
नागेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो॥

सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, ओकार का जाप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जंगल में रहने से कोई मुनि नहीं होता और कुश-चीवर धारण करने से कोई तापस नहीं होता। समय से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस कहलाता है।

धर्म के क्षेत्र में अपने विरोधी पर नास्तिक, मिथ्यादृष्टि, काफिर आदि का आक्षेपण हमने बहुत किया है। हम सामान्यतया यह मान लेते हैं कि हमारे धर्म और दर्शन में विश्वास रखने वाला व्यक्ति ही आस्तिक, सम्यदृष्टि और ईमानवाला है और दूसरे धर्म और दर्शन में विश्वास रखने वाला नास्तिक है, मिथ्यादृष्टि है, काफिर है, वस्तुतः इन सबके मूल में दृष्टि यह है - मैं ही सच्चा हूँ और मेरा विरोधी खूब यही दृष्टिकोण असहिष्णुता और धार्मिक संघर्ष का मूलभूत कारण है।

हाथारा दुर्भाग्य इससे भी अधिक है, वह यह यह कि हम न केवल दूसरों का नास्तिक, मिथ्यादृष्टि या काफिर समझते हैं, अपितु उन्हें सम्यदृष्टि और ईमानवाले बनाने की जिम्मेदारी भी अपने सिर पर ओढ़ लेते हैं। हम यह मान लेते हैं कि दुनियाँ को सज्जे राखने पर लगाने का ठेका हमने ही ले रखा है। हम यह मानते हैं कि मुक्ति हमारे धर्म और धर्मगुरु की शारण में ही होगी। इसी एक अंधविश्वास या मिथ्या धारणा ने दुनिया में अनेक बार जिहाद या धर्मयुद्ध कराये हैं। दूसरों को आस्तिक, सम्यदृष्टि और ईमानवाला बनाने के लिए हमने अनेक बार खुन की होलियाँ खेली हैं। पहले तो अपने से भिन्न धर्म या सम्प्रदाय वाले को नास्तिकता या कुर्फ्र का फतवा दे देना और फिर उसके सुधारने की जिम्मेदारी अपने सिर पर ओढ़ लेना, एक दोहरी मूर्खता है। दुनिया को अपने ही धर्म या सम्प्रदाय के रंग में रंगने का स्वप्न न केवल दिवासस्वप्न है, अपितु एक दुःस्वम भी है।

महावीर ने सूत्रक्रांत में बहुत ही स्पष्ट रूप से कहा है -

धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म: 14
सयं सयं पसंसंता, गरहता परं वरं।
जे उ तत्थ्व विउससंति, संसरे ते विउसिया।\textsuperscript{12}

अर्थात् जो लोग अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मत की निन्दा करते हैं तथा दूसरों के प्रति द्वेष का भाव रखते हैं वे संसार में परिव्रत्तन करते हैं। जैन परम्परा का यह विश्वास रहा है कि सत्य का सूर्य सभी के आँगन को प्रकाशित कर सकता है। उसकी किरणें सर्वत्र विकीर्ण हो सकती है। जैनों के अनुसार वस्तुतः मिथ्यात्व/असत्यता तभी उपन्य होती है जब हम अपने को ही एकमात्र सत्य और अपने विरोधी को असत्य मान लेते हैं। जैन आगम साहित्य में मिथ्यात्व के जो विविध रूप बताये गए हैं, उनमें एकांत और आग्रह को भी मिथ्यात्व कहा गया है। कोई भी कथन जब वह अपने विरोधी के कथन का एकांतरूप से निषेधक होता है, मिथ्या हो जाता है और जब उन्हीं मिथ्या कहे जानेवाले कथनों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार कर लिया जाता है तो वे सत्य बन जाते हैं। जैन आचार्यों ने जैनधर्म को मिथ्यामतसमूह कहा है। आचार्य सिद्धसेन सन्मतितक प्रकरण में कहते हैं –

भद्दुं मिच्छादंसण समूहमंडवल्स्स अमयसारस्स।
जिणवयणाणं भगवाो संविगा सुहाहिगमाम्स्स।\textsuperscript{13}

अर्थात् ‘मिथ्यादर्शनसमूहरूप अमृतसर प्रदायी और मुमुखजनों को सहज समझ में आनेवाले जिनचंचन का कल्याण हो।’ यहाँ जिनधर्म का ‘मिथ्या-दर्शनसमूह’ कहने का तात्त्व्य है कि वह अपने विरोधी मतों की भी सत्यता को स्वीकार करता है। जैनधर्म को मिथ्या-मतसमूह कहने सिद्धसेन की विशालहदयता का भी परिचायक है। वस्तुत: जैनधर्म में यह माना गया है कि सभी धर्ममार्ग देश, काल और वैयक्तिक-रूचि-वैभन्न के कारण भिन-भिन होते हैं, किन्तु वे सभी किसी दृष्टिकोण से सत्य भी होते हैं।

मुक्ति का द्वार: सभी के लिए उद्घाटित

वस्तुत: धार्मिक असहिष्णुता और धार्मिक संघर्ष का एक कारण यह भी

धार्मिक तहिष्णुता और जैनधर्म: 15
होता है कि हम यह मान लेते हैं कि मुक्ति केवल हमारे धर्म में विश्वास करने से या हमारी साधना-पद्धति को अपनाने से ही सम्भव है या प्राप्त हो सकती है। ऐसी स्थिति में हम इसके साथ-साथ यह भी मानते हैं कि दूसरे धर्म और विश्वासों के लोग मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं, किन्तु यह मान्यता एक भान्त आधार पर खड़ी है, वस्तुतः दु:ख या बन्धन के कारणों का उचित करने पर कोई भी व्यक्ति या जन उस संस्कृतिकोण सदैव ही उदार रहा है। जैनधर्म यह मानता है कि जो भी व्यक्ति बन्धन के मूलभूत कारण - राग देश और मोह का प्रहाण कर सके, वह मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। ऐसा नहीं है कि केवल जैन ही मोक्ष को प्राप्त करेंगे और दूसरे लोग मोक्ष को प्राप्त नहीं करेंगे। उल्लासाध्यमन्त्र में, जो कि जैन परम्परा का एक प्राचीन आगमग्रन्थ है ‘अन्य लिङसिद्ध’ का उल्लेख प्राप्त होता है- 

इत्थं पुरिसिद्धा य तेहव य नुसंगाः।
सलिंगे अनलिंगे य गहिलिंगे तेहव य।।

‘अन्यलिंग’ शब्द का तात्पर्य जैनेतार धर्म और सम्प्रदाय के लोगों से है। जैनधर्म के अनुसार मुक्ति का आधार न तो कोई धर्म सम्प्रदाय है और न कोई विशेष वेश-भूषा ही। आचार्य रत्नशेखरसूरी सम्बोधसत्तारी में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि-

सेवंरो य आसंरो य बुद्धो य अहव अनो या।
समभावभावविप्पा लहेव मुख्यं न संदेहो।।

अर्थात् जो भी समभाव की साधना करेगा वह निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त करेगा फिर चाहे वह श्वेताम्बर हो या दिगम्बर हो, बौद्ध हो या अन्य किसी धर्म को नामाने वाला हो। इसी बात का अधिक स्पष्ट प्रतिपादन आचार्य हरिभट्ट के ग्रन्थ उपदेशातर्गिणी में भी है। वे लिखते हैं कि -

नासाम्बरलवे न सिताम्बरलवे, न तर्कवादे न च तत्त्वावदे।
न पक्षसेवाश्रयेण मुक्ति, कषायमुक्ति: किल मुक्तिरेव।।

धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म: 16
अर्थात् युक्ति न हो तो सफेद वस्त्र पहनने से होती है न दिगम्बर रहने से; तार्किक वाद-विवाद और तत्त्वज्ञान से भी युक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। किसी एक सिद्धान्त विशेष में आस्था रखने या किसी व्यक्ति विशेष की सेवा करने से भी युक्ति असम्भव है। युक्ति तो वस्तुतः कथायों अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ से मुक्त होने में है। एक दिगम्बर आचार्य ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि-

संघो को विन तारां, कद्रो मूलो तहेव गिनिच्छो।
अप्पा तारां अप्पा तम्हा अप्पा व झाएहि।

अर्थात् कोई भी संघ अर्थात् सम्रादय हमें संसार-समुद्र ये पार नहीं करा सकता चाहे वह मूलसंघ हो, कात्तकांश हो या निषिप्पिछ्छकसंघ हो। वस्तुतः जो आत्माबोध को प्राप्त करता है वही मुक्ति को प्राप्त करता है। मुक्ति तो अपनी विषय-वासनाओं से, अपने अहंकार और अर्थर्थ से तथा राग-द्वेष के तत्त्वों से ऊपर उठने पर प्राप्त होती है। अतः हम कह सकते हैं कि जैनों के अनुसार मुक्ति पर न तो व्यक्ति विशेष का अधिकार है और न तो किसी धर्म विशेष का अधिकार है। मुक्त पुरुष चाहे वह किसी धर्म या सम्रादय का रहा हो सभी के लिए वन्दनीय और पूज्य होता है।
आचार्य हरिभद्र लोकतंत्र निर्णय में कहते हैं-

यस्य निखिलाश्च दोषा न, सति सर्वं गुणाश्च विद्यन्ते।
ब्रह्म वा विष्णुवर्ष हरो, जिनो वा नमस्तम्मे।

अर्थात् जिसके सभी दोष विनष्ट हो चुके हैं और जिसमें सभी गुण विद्यमान हैं, वह फिर ब्रह्म हो, महादेव हो, विष्णु हो या फिर जिन- हम उसे प्रणाम करते हैं। इसी बात को आचार्य हेमचन्द्र महादेवस्तोत्र में लिखते हैं -

भव-बीजाकुरजनना रागाया क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्म वा विष्णुवर्ष हरो जिनो वा नमस्तम्मे।

अर्थात् संसार-परिप्रेम के कारणभूत राग-द्वेष के तत्त जिनके क्षीण हो चुके हैं उसे

पार्थिक सहिष्नुता और जैनस्मर्मः।

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org
हमारा प्रणाम है। वह चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महादेव हो या जिन।

वस्तुतः हम अपने-अपने आराध्य के नामों को लेकर विवाद करते रहते हैं। उसकी विशेषताओं को अपनी दृष्टि से ओझाल कर देते हैं। सभी धर्म और दर्शनों में परम तत्त्व या परम सत्ता को राग-द्वेष, उपासना और आसक्ति से रहित, विषय वासनाओं से ऊपर उठी हुई पूर्णिमा तथा परम कारुणिक माना गया है। हमारी दृष्टि उस परम तत्त्व के इस मूलभूत स्वरूप पर न होकर नामों पर टिकी होती है और इसी के आधार पर हम विवाद करते हैं। जबकि वह नामों का भेद अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता है। आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि -

सदाशिवः परं ब्रह्मा सिद्धात् । तथतेष्टि च।
शब्देनस्तु उच्चायेतनवर्षादृशं एकं श्रेयमादिभि:।।

अर्थात् यह एक ही तत्त्व है चाहे उसे सदाशिव कहें, पशुब्रह्म कहें, सिद्धात्म कहें या तथागत कहें। नामों को लेकर जो विवाद किया जाता है उसकी निस्सारता को स्पष्ट करने के लिए एक सुन्दर उदाहरण दिया जाता है। एक बार भिन्न भाषा-भाषी लोग किसी नगर की धर्मशाला में एकत्रित हो गये। वे एक ही वस्तु के अलग-अलग नामों को लेकर परमधर्म करने लगे। संयोग से उसी समय उस वस्तु का विक्रेता उसे लेकर वहाँ आया। सब उसे खरीदने के लिए टूट पड़े और अपने विवाद की निस्सारता को समझने लगे। धर्म के श्रेणी में भी हमारी यही स्थिति है। हम सभी अज्ञान, तृणा, आसक्ति या राग-द्वेष के तत्त्वों से ऊपर उठता है। इसी प्रकार परम आध्यात्मिक अनुभूति से बंधित रहते हैं। वस्तुतः यह नामों का विवाद तभी तक रहता है जब तक कि हम उस आध्यात्मिक अनुभूति के रस का सरास्वादन नहीं करते हैं। व्यक्ति जैसे ही वीरेन्द्र, वीरतृणा या अनासक्त की भूमिका का स्पर्श करता है उसके सामने ये सभी नामों के विवाद निरस्त हो जाते हैं। सत्यविही व्यक्ति के आध्यात्मिक साधक आनन्दन छोड़ते हैं -

राम कहो रहिमान कहो कोइ वाणिज्य नहीं महादेव री।
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा सकल ब्रह्म स्वयंमेव री।।

धार्मिक सहिष्णुता और जीवनरूपः१८
भाजन भेद कहावत नाना एक मृतिका का रूप री।
तापे खंड कल्पनारोपित आप अखंड सरुप री।

राम-रहीम, कृष्ण-करीम, महादेव और पार्श्वनाथ सभी एक ही सत्य के विभिन्न रूप हैं जैसे एक ही मिट्टी से बने विभिन्न पत्त अलग-अलग नामों से पुकारे जाते हैं, किनतु उनकी मिट्टी मूलतः एक ही है। वस्तुतः आराध्य के नामों की यह भिन्नता वास्तविक भिन्नता नहीं है। यह भाषागत भिन्नता है, स्वरूपात्मक भिन्नता नहीं है। अतः इस आधार पर विवाद और संघर्ष निर्माण है और वे विवाद करने वाले लोगों की अल्पबुद्धि के ही परिचायक हैं।

धार्मिक संघर्ष का नियंत्रक-मत- प्रजा

धर्म के क्षेत्र में अनुदार और असहिष्णुता के कारणों में एक कारण यह भी है कि धार्मिक जीवन में बुद्धि या विवेक के तत्त्वों को नकार कर श्रद्धा को ही एकमात्र आधार मान लेते हैं। यह ठीक है कि धर्म श्रद्धा पर टिका हुआ है। धार्मिक जीवन के आधार हमारे विश्वास और आस्थाएं हैं लेकिन हमें यह द्यान रखना होगा कि यदि हमारे ये विश्वास और आस्थाएं विवेक बुद्धि को नकार कर चलाएँ, तो वे अंधविश्वासों में पीडित हो जायेंगे और ये अंधविश्वास ही धार्मिक संघर्षों के मूल कारण हैं। धार्मिक जीवन में विवेक बुद्धि या प्रजा को श्रद्धा का प्रहरी बनाया जाना चाहिए।

अन्यथा हम अंध-श्रद्धा से कभी भी मुक्त नहीं हो सकेंगे। आज का युग विज्ञान और तर्क का युग है फिर भी हमारा अधिकांश जन समाज, जो अशिक्षित है, वह श्रद्धा के बल पर जीता है हमें यह स्पर्श रखना होगा कि श्रद्धा यदि विवेक प्रधान नहीं होती तो वह सर्वाधिक धातक होती है। इसलिए जैन आचार्यों ने अपने मोक्षमार्ग की विवेचना में सम्प्रद-दर्शन के साथ-साथ सम्प्रदायी जन भी आवश्यक माना है। जैन परम्परा में भी जब, आचार के बाह्य विठ्ठिनिषेधों को तेज़ पार्श्वनाथ और महावीर की संस्कृतवस्था में जो मतभेद थे, उन्हें सुलझाने का प्रयत्न किया गया, तब उसके लिए श्रद्धा के स्थान पर प्रजा अर्थात विवेक-बुद्धि को ही प्रधानता दी गयी।

उत्तराध्यनसूत्र के तेज़वें अध्ययन में पार्श्वनाथ की परम्परा के तत्कालीन प्रमुख

धार्मिक सहिष्णुता और जैनर्थ: 19
आचार्य केशी, महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम से यह प्रसन करते हैं कि एक ही लक्ष्य की सिद्ध के लिए प्रयत्नशील पारस्परिक्षां और महावीर के आचार-नियमों में यह अन्तर कौन सा है ? इससे समाज में मतिस्म उत्पन्न होता है।

इन्द्रभूति गौतम ने उस समय जो कहा था, वह आज के सन्दर्भ में भी महत्वपूर्ण हैं। वे कहते हैं कि-

पन्ना समितिक्षण धम्मं तत्त्वतीतिविचित्रयं। २०

अर्थात् धार्मिक आचार के नियमों की समीक्षा और मूल्यांकन प्रज्ञा के द्वारा करना चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक जीवन में अकेले श्रद्धा ही आधारभूत नहीं मानी जानी चाहिए, उसके साथ-साथ तर्क-बुद्धि, प्रज्ञा एवं विवेक की भी स्थान मिलना चाहिए। भगवान बुद्ध ने आतारकालाम को कहा था कि तुम किसी के वचनों को केवल इसलिए स्वीकार मत करो कि इनका कहने वाला श्रमण हमारा पूज्य हैं। हे कालमो! जब तुम आत्मानुभव से अपने आप ही यह जान लो कि ये बातें क्षुल्ल हैं, ये निदोष हैं- इनके अनुसार चलने से हित होता है, सुख होता है, तभी उन्हें स्वीकार करो। एक अन्य बौद्ध ग्रन्थ तत्त्वसंग्रह में भी कहा गया है-

तापावृद्धाच्य निकषितातु सुवर्णमिभव पुष्टिते।
परीक्ष्य भिष्कशो ग्राहां मद्वचो न तु गोरवात।॥ २१

जिस प्रकार स्वर्ण की तपाकर, हेडकर, कसकर और परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार से धर्म की भी परीक्षा की जानी चाहिए। उसे केवल शास्त्र द्वारा प्रति आदरभाव के कारण स्वीकार नहीं करना चाहिए। धार्मिक जीवन में जब तक विवेक या प्रज्ञा को विश्वास और आस्था का निर्यंत्रक नहीं माना जायेगा, तब तक हम मानव जाति को धार्मिक संध्यां और धर्म के प्रस्ताव खेलने वाली खून की होली से नहीं बचा सकेंगे। श्रद्धा भावना प्रधान है, भावनाओं को उभारना सहज होता है। अतः धर्म के प्रस्ताव पर अपने निहित स्वार्थों की सिद्धि में लगे हुए कुछ लोग अपने उन स्वार्थों की पूर्ति के लिए सामान्य जनमनस्क की भावनाओं को उभारकर उसे उम्मीदवार बना देते हैं तथा शास्त्र में से कोई एक वचन प्रस्तुत कर उसे इस प्रकार व्याख्यायित

धार्मिक सहिष्णुता और जैनशास्त्रः २०
करते हैं कि जिससे लोगों की भावनाएं या धर्मोन्माद उभरे और उन्हें अपने निहित स्वार्थों की सिद्धि का अवसर मिले। वे यह भी कहते हैं कि शास्त्र में एक शब्द का भी परिवर्तन करना या शास्त्र की अव हेलना करना बहुत बड़ा पाप है। मात्र यही नहीं, वे जनसामान्य को शास्त्र के अध्ययन का अनाधिकारी मानकर अपने को ही शास्त्र का एकमात्र सच्चा व्याख्याता सिद्ध करते हैं और शास्त्र के नाम पर जनता को मूर्ख बनाकर अपना हित साधन करते रहते हैं। धर्म के नाम पर गुरू-गुरु से जनता का इसी प्रकार शोषण होता रहा है। अतः यह आवश्यक है कि शास्त्र की सारी बातों और उनकी व्याख्याओं को विवेक के तराजू पर तोला जाये। उनके सारे नियमों और मर्यादाओं का गृहीत सन्दर्भ में मूल्यांकन और समीक्षा की जाये। जब तक यह सब नहीं होता है, तब तक धार्मिक जीवन में आधी हुई संकीर्णता को मिटा पाना संभव नहीं। विवेक ही एक तत्त्व है जो हमारी दृष्टि को उदार और व्यापक बना सकता है। श्रद्धा आवश्यक है किन्तु उसे विवेक की अनुगमी होना चाहिए। विवेक युक्त श्रद्धा ही सम्पूर्ण श्रद्धा है। वही हमें सत्य का दर्शन करा सकती है। विवेक से रहित श्रद्धा अंध-श्रद्धा होगी और हम उसके आधार पर अनेक अंधविश्वासों के शिकार बनेंगे। आज धार्मिक उदारता और सहिष्णुता के लिए श्रद्धा को विवेक से समन्वित किया जाना चाहिए। इसलिए, जैनाचार्यों ने कहा था कि सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण दर्शन (श्रद्धा) में एक सामंजस्य होना चाहिए।

जैनधर्म में धार्मिक सहिष्णुता का आधार -अनेकान्तवाद

जैन आचार्यों की मान्यता है कि परमार्थ, सत्य या वस्तुतत्व अनेक विरोधपतियों और गुरू का पुंज है। उनका कहना था कि 'वस्तुतत्व अनन्तधर्मत्तम' है । २२ उसे अनेक दृष्टियों से जाना जा सकता है। अतः उसके समबन्ध में कोई निर्णय निरपेक्ष और पूर्ण नहीं हो सकता है। वस्तुतत्व के समबन्ध में हमारा ज्ञान और कथन दोनों ही सापेक्ष हैं। अर्थात् वे किसी सन्दर्भ या दृष्टिकोण के आधार पर ही सत्य है। आंशिक एवं सापेक्ष ज्ञान/कथन को अपने से विरोधी ज्ञान/कथन को असत्य कहकर नकारने का अधिकार नहीं है। इसे हम निम्न उदाहरण से स्पष्टतया समझ सकते हैं। कल्पना कीजिए कि अनेक व्यक्ति अपने-अपने कैमरों से विभिन्न कौण्स ने से एक वृक्ष का
चित्र लेते हैं। ऐसी स्थिति में सर्वप्रथम तो हम यह देखेंगे कि एक ही वृक्ष के विभिन्न कोणों से विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा हजारों हजार चित्र लिये जा सकते हैं। साथ ही इन हजारों हजार चित्रों के बावजूद भी वृक्ष का बहुत कुछ भाग ऐसा है जो केवल उसकी पकड़ से अकृति रह गया है। पुनः: जो हजारों हजार चित्र विभिन्न कोणों से लिए गये हैं, वे एक दूसरे से भिन्नता रखते हैं। यदापि वे सभी उसी वृक्ष के चित्र हैं। केवल उसी स्थिति में दो चित्र मामल होंगे जब उनका कोण और वह स्थल जहाँ से वह चित्र लिया गया है - एक ही हो। अपूर्णता और भिन्नता दोनों ही बातें इन चित्रों में है। यही बात माननीय ज्ञान के सम्बन्ध में भी है। मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों की क्षमता और शक्ति सीमित है। वह एक अपूर्ण प्राणी है। अपूर्ण के द्वारा पूर्ण को जानने के समस्त प्रयास आंशिक सत्य के ज्ञान से आगे नहीं जा सकते हैं। हमारा ज्ञान, जब तक कि वह ऐन्ध्रिकता का अंतिक्रमण नहीं कर जाता, सदैव आंशिक और अपूर्ण होता है। इसी आंशिक ज्ञान को जब पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तो विवाद और वैचारिक संघर्ष का जन्म होता है। उपरुपक्त उदाहरण में वृक्ष के सभी चित्र उसके किसी एक अंश विशेष को ही अभिव्यक्त करते हैं। वृक्ष के इन सभी अपूर्ण एवं भिन्न-भिन्न और दो विरोधी कोणों से लिये जाने के कारण-किसी सीमा तक परस्पर विरोधी-अनेक चित्रों में हम यह कहने का साहस नहीं कर सकते हैं कि यह चित्र उस वृक्ष का नहीं है अथवा यह चित्र असत्य है। इसी प्रकार हमारे आंशिक एवं दृष्टिकोणों पर आधारित सापेक्ष ज्ञान को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने से विरोधी मन्तव्यों को असत्य कहकर नकार दे। वस्तुतः हमारी ऐन्ध्रिक क्षमता, तर्क- वृद्धि, शब्दसामर्थ्य और भावायु अभिव्यक्ति सभी अपूर्ण, सीमित और सापेक्ष है। ये समपूर्ण सत्य की एक साथ अभिव्यक्ति में सक्षम नहीं है। मानव वृद्धि समपूर्ण सत्य का नहीं, अपितु उसके एकांश का प्रगति कर सकती है। तत्त्व या सत्ता अंतर्ज्ञात तो नहीं है किन्तु बिना पूर्णता को प्राप्त हुए उसे पूर्णरूप से ज्ञान भी नहीं जा सकता। आइन्स्टीन ने कहा था हम सापेक्ष सत्य को ज्ञान सकते है, निरपेक्ष सत्य को तो कोई निरपेक्ष दृष्टि ही जानेगा। जब तक हमारा ज्ञान अपूर्ण सीमित या सापेक्ष है तब तक हमें दूसरों के ज्ञान और अनुभव को चाहे वह हमारे ज्ञान का विरोधी क्यों न हो, असत्य कहकर निषेध करने का कोई अधिकार नहीं। आंशिक सत्य का ज्ञान दूसरों के द्वारा प्राप्त ज्ञान का निषेधक नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि मेरी दृष्टि ही सत्य है, सत्य मेरे ही पास है-दार्शनिक दृष्टि से एक भारत धारणा ही है।

धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म: 22
यद्यपि जैनों के अनुसार सर्वज्ञ या बृहुपुरुष संपूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, फिर भी उसका ज्ञान और कथन उसी प्रकार निर्पेक्ष-अपेक्षा से रहित नहीं हो सकता है, जिस प्रकार बिना किसी कोण के किसी भी वस्तु का कोई भी चित्र नहीं लिया जा सकता है। बृहुपुरुष सत्य का बोध चाहे संभव हो किन्तु उसे न तो निर्पेक्ष रूप से जाना जा सकता है और न कहा ही जा सकता है। उसकी अभिव्यक्ति का जब भी कोई प्रयास किया जाता है, वह आंशिक और सापेक्ष बनकर ही रह जाता है। बृहुपुरुष को भी हमें समझाने के लिए हमारी उसी भाषा का सहारा लेना पड़ता है जो सीमित, सापेक्ष और अपूर्ण है। 'है' और 'नहीं है' की सीमा से बिठरे हुई भाषा बृहुपुरुष सत्य का प्रकटन कैसे करेगी। इसलिए जैन परमर्श में कहा गया था कि कोई भी वचन (जिन्हें भी) नय (दृष्टिकोण विशेष) से रहित नहीं होता है अर्थात् सर्वज्ञ के कथन भी सापेक्ष है, निर्पेक्ष नहीं। \(^{23}\) जैन परमर्श के अनुसार जब सापेक्ष सत्य को निर्पेक्ष रूप से दूसरे सत्यों का निरेखक मात्र लिया जाता है तो वह अस्वभाव कर जाता है और इसे ही जैनों की परम्परागत शब्दावली में विश्वास कहा गया है। जिस प्रकार अलग-अलग कोणों से लिये गये चित्र परस्पर भिन्न-भिन्न और विरोधी होकर भी एक साथ यथार्थ के परिचयक होते हैं उसी प्रकार अलग-अलग संदर्भों में कई गये भिन्न-भिन्न विचार परस्पर विरोधी होते हुए भी सत्य हो सकते हैं। सत्य केवल उतना नहीं है, जितना हम जानने हैं। अतः हमें अपने विचारधियों के सत्य का निपेध करने का अधिकार भी है। वस्तुतः सत्य केवल तभी अस्वभाव बनता है जब हम उस अपेक्षा या दृष्टिकोण की दृष्टि से ओझाल कर देते हैं, जिसमें वह कहा गया है। जिस प्रकार चित्र में वस्तु की सही स्थिति को समझने के लिए उस कोण का भी ज्ञान अपेक्षित होता है, उसी प्रकार वाणी में प्रकट सत्य को समझने के लिए उस दृष्टिकोण का विचार अपेक्षित है जिसमें वह कहा गया है। समग्र कथन संदर्भ सहित होते हैं और उन संदर्भों से अलग हटकर उन्हें नहीं समझा जा सकता है। जो ज्ञान सन्दर्भ सहित है, वह सापेक्ष है और जो सापेक्ष है वह अपनी सत्यता का दावा करते हुए भी दूसरे की सत्यता का निपेधक नहीं हो सकता है। सत्य के समन्वय में यही एक ऐसा दृष्टिकोण है जो विभिन्न धर्म और सम्प्रदायों को सापेक्षिक सत्यता एवं मूल्यवात को स्वीकार कर उनमें परस्पर सौहार्द और समन्वय स्थापित कर सकता है। अनेकांक्ति की आधारभूमि पर ही यह मानना सम्भव है कि हमारे और हमारे विरोधी के विचार और कथन दो भिन्न-भिन्न परिपक्वों में एक साथ सत्य हो।

धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्मः 23
अर्थात् सभी नय अर्थात् सापेक्षिक वक्तव्य अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य है। वे असत्य तभी होते हैं जब वे अपने से निरोधी दृष्टिकोणों के आधार पर किये गये कथनों का निषेध करते हैं। इसीलिए अनेकान्त दृष्टि का समर्थक या शास्त्र का ज्ञाता उन परस्पर निरोधी सापेक्षिक कथनों में ऐसा विभाजन नहीं करता है कि वे सच्चे हैं और वे झूठे हैं। किसी कथन या विश्वास की सत्यता और असत्यता उस सन्दर्भ अथवा दृष्टिकोण विशेष पर निर्भर करती है जिसमें वह कहा गया है। वस्तुतः: यदि हमारी दृष्टि उदार और व्यापक है तो इस परस्पर निरोधी कथनों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करना चाहिए। परिणामस्वरूप विभिन्न धर्मवादों में पारस्परिक विवाद या संघर्ष का कोई कारण नहीं बनता। जिस प्रकार परस्पर झगड़ने वाले व्यक्ति किसी तद्स्थ व्यक्ति के अर्थी होकर मित्रता को प्राप्त कर लेते हैं उसी प्रकार परस्पर निरोधी विचार और विश्वास अनेकान्त की उदा और व्यापक दृष्टि के अर्थी होकर पारस्परिक निरोध को भूल जाते हैं।

उपाध्याय यशोविजय जी लिखते हैं -

| यस्य सर्वं समता नयेशु तयेश्चिव। |
| तत्स्यानेकान्तवादस्य कव्य न्यूनाधिकशोभुधी। |
| तेन स्यादालांम्य सर्वदेशातुत्त्यताम्। |
| मोक्षोद्धारस्विरोषेण यः: पश्यति स शास्त्रविविक्। |
| माध्यस्थ्यमेव शास्त्राध्यौ रोन तच्चारू सिद्धिति। |
| स एव धर्मवादः स्याद्यद्वालिशल्शवल्लम्। |
| माध्यस्थ्यसहिंतं होकपदानंतमपि प्रमा। |
| शास्त्रकोटिःतृप्तिवैवान्यता तथा चोकं महात्मन। |

अर्थात् सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्रेष्ट नहीं करता है। वह सम्पूर्ण

धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म: 24
दृष्टिकोणों (दर्शनों) को इस प्रकार वातस्य दृष्टि से देखता है जिस प्रकार कोई पिता अपने पुत्र को। एक सच्चे अनेकान्त वादी की दृष्टि न्यूनतम से ही होती है। वह सभी के प्रति समाभाव रखता है अर्थात् विचारधारा या धर्म-सिद्धान्त की सत्यता का विशेष परिप्रेक्ष्य में दर्शन करता है। आगे वे पुत्र कहते हैं कि सच्चा शास्त्र कहे जाने का अधिकारी वही है जो स्वाध्वर अर्थात् उदार दृष्टिकोण का आलम्बन लेकर सम्पूर्ण विचारधाराओं को समान भाव से देखता है। वस्तुतः माध्यम भाव ही शास्त्रों का गुढ़ रहस्य है और यही सच्चा धर्मवाद है। माध्यम भाव अर्थात् उदार दृष्टिकोण के रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों का ज्ञान भी वृत्ता है।

जैनधर्म और धार्मिक सहिष्णुता के प्रसंग

जैनाचार्यों का दृष्टिकोण आरम्भ से ही उदार और व्यापक रहा है। यही कारण है कि उन्होंने दूसरी विचारधाराओं और विश्वासों के लोगों का सदैव आदर किया है। इसका सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण जैन परम्परा का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है—श्रीभगवत। श्रीभगवत के अनुसार उन पैतालानि अर्थात् श्रीभगवतों के उपदेशों का संकलन है, जिनमें पार्श्वनाथ और महावीर को छोड़कर लगभग सभी जैनतार परम्पराओं के हैं। नारद, भार्ष्याज, नमी, रामपुत्र, शाक्यपुत्र गौतम, मंकलि गोशाल आदि अनेक धर्ममार्ग के प्रवर्तकों एवं आचार्यों के विचारों का इसमें जिस आदर के साथ संकलन किया गया है वह धार्मिक उदारता और सहिष्णुता का परिचय है। इन सभी को अर्थात् श्रीभगवत कहा गया है 27 और इनके वचनों को आगमवाणी के रूप में स्वीकार किया गया है। सम्बन्धतः प्राचीन धार्मिक साहित्य में यही एकमात्र ऐसा उदाहरण है, जहाँ निरोधी विचारधारा और विश्वासों के व्यक्तियों के वचनों को आगमवाणी के रूप में स्वीकार कर समादर के साथ प्रस्तुत किया गया हो।

जैन परम्परा की धार्मिक उदारता की परिचय के सूत्रकृतांग की पूर्वपरिवर्तन वह गाया भी है, जिसमें यह कहा गया है कि जो अपने-अपने मत की प्रसांगा करते हैं और दूसरों के मतों की निदान करते हैं तथा उनके प्रति विद्वेषभाव रखते हैं। वे संसारचक्र में परिप्रेक्ष्य होते रहते हैं। सम्बन्धतः: धार्मिक उदारता के लिए इससे

धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म: 25
महत्त्वपूर्ण और कोई वचन नहीं हो सकता। यद्यपि यह सत्य है कि अनेक प्रसंगों में जैन आचार्य ने भी दूसरी विचारधाराओं और मान्यताओं की समालोचना की है किन्तु उन सन्दर्भों में भी कुछ अपवादों को छोड़कर सामान्यतया हमें एक उदार दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। हम सूक्खा गांधी का ही उदाहरण लें, उसमें अनेक विरोधी विचारधाराओं की समीक्षा की गयी है किन्तु शालीनता यह है कि वह भी विशेष धर्मसागर या धर्मप्रवर्तक पर वैज्ञानिक हैं। जैन धर्म के सभी उपवासों का उल्लेख करता है, उनके मानने वालों का नामांकन नहीं करता है वह केवल इतना कहता है कि कुछ लोगों की यह मान्यता है या कुछ लोग यह मानते हैं, जो कि संगतिपूर्ण नहीं है। इस प्रकार वैज्ञानिक या नामपुर्ण समालोचना से-जो विवाद या संभाव्य का कारण हो सकती है- वह सदैव दूर रहता है। ।

जैन धर्म के साहित्य में हम ऐसे अनेक सन्दर्भ भी पाते हैं, जहां अपने से विरोधी विचारों और विश्वासों के लोगों के प्रति समादर दिखाया गया है। सर्वप्रथम आचार्य जैन युवा को यह स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि वह अपनी भिक्षावृत्ति के लिए इस प्रकार जाये कि जिससे अन्य परम्पराओं के श्रमणों, नवीनजनकों और भिक्षुओं को भिक्षा प्राप्त करने में कोई बाधा न हो। यदि वह देखे कि अन्य परम्परा के श्रमण या भिक्षु किसी गृहस्थ उपासक के लिए उपस्थित हैं तो वह या तो भिक्षा के लिए आगे प्रस्थान कर जाये या फिर सबके पीछे इस प्रकार खड़ा रहे कि भिक्षाप्राप्ति में कोई बाधा न हो। मात्र यही नहीं यदि गृहस्थ उपासक उसे और अन्य परम्पराओं के भिक्षुओं के सम्मिलित उपयोग के लिए जैन भिक्षु को यह कह कर भिक्षा दे कि आप सब मिलकर खा लेना तो ऐसी स्थिति में जैन भिक्षु का यह दायित्व है कि वह समानरूप से भिक्षा को सभी में वितरित करे। वह न तो भिक्षा में प्राप्त अच्छी सामग्री को अपने लिए खरी न भिक्षा का अधिक अंश ही ग्रहण करे।

भगवान युवा के अन्दर हम यह देखते हैं कि भगवान सत्याजीन के ज्ञेय अनेक विचारधाराओं को लिखने के लिए उनका पूर्वपरिचित मित्र स्कन्द, जो कि सामान्य परम्परा के नवीनजनकों के लिए दीक्षित हो गया था, आता है तो महाबीर स्वयं गौतम को उसके सम्मान और स्वागत का आदेश देते हैं। गौतम आगे बढ़कर अपने मित्र का स्वागत करते हैं और कहते हैं- हे स्कन्द ! तुम्हारा स्वागत है, सुस्वागत है। अन्य परम्परा के श्रमणों और नवीनजनकों के प्रति इस प्रकार का सम्मान एवं आदराव निरंतर ही धार्मिक सहिष्णुता और पारस्परिक सम्बन्धों में वृद्धि करता है।

धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म: 26
उत्तराध्ययनसूत्र में हम देखते हैं कि भगवान् पार्श्वपाथ की परम्परा के तत्कालीन प्रमुख आचार्य श्रमणकेशी और भगवान् महावीर के प्रधान गणराय इन्द्रभूति गौतम जब संयोग से एक ही समय श्रावस्ती में उपस्थित होते हैं तो वे दोनों परम्पराओं के पारस्परिक मतभेदों को दूर करने के लिए परस्पर सोहार्द्धपूर्ण वातावरण में मिलते हैं। एक और ज्येष्ठकुल का विचार का गौतम स्वयं श्रमणकेशी के पास जाते हैं तो दूसरी और श्रमणकेशी उन्हें श्रमणपर्याय में ज्येष्ठ मानकर पूरा समादर प्रदान करते हैं। जिस सोहार्द्धपूर्ण वातावरण में वह चर्चा चलती है और पारस्परिक मतभेदों का निराकरण किया जाता है वह सब धार्मिक सहिष्णुता और उदार वृद्धिकोण का एक अद्भुत उदाहरण है।

दूसरी धर्म परम्पराओं और सम्प्रदायों के प्रति ऐसा ही उदार और समादर का भाव हमें आचार्य हरिभ्रत्र के ग्रंथों में भी देखने को मिलता है। हरिभ्रत्र संयोग से उस युग में उपस्थित जब पारस्परिक आलोचना-प्रत्यालोचना अपनी चर्चा सीमा पर थी। फिर भी हरिभ्रत्र ने केवल अपनी समालोचनाओं में संयंत रहे अपने उन्होंने सदैव ही अन्य परम्पराओं के आचार्यों के प्रति आदरभाव प्रस्तुत किया। शास्त्रवािासमृद्धि उनकी इस उदारवृत्ति और सहिष्णुता की परिचयक एक महत्वपूर्ण बौद्ध दर्शन की दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा करने के उपरान्त वे कहते हैं कि बुद्ध ने जिन क्षणिकवाद, अनातमवाद और गूढ्यवाद के सिद्धांतों का उपदेश दिया, वह वस्तुतः ममत्व के विनाश और तृणा के उच्छ्वेद के लिए आवश्यक ही था। वे भगवान् बुद्ध को अर्हत, महामुनि और सुधेर की उपमा देते हैं और कहते हैं कि जिस प्रकार एक अच्छा वैद्य रोगी के रोग और प्रकृति को ध्यान में रखकर एक ही रोग के लिए भिन-भिन औषधि प्रदान करता है, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने अपने अनुयायियों के विभिन्न स्तरों को ध्यान में रखते हुए इन विभिन्न सिद्धांतों का उपदेश दिया है। ऐसा ही उदार वृद्धिकोण वे साध्य दर्शन के प्रस्तोता महामुनि कपिल और न्यायदर्शन के प्रतिपादकों के प्रति भी व्यक्त करते हैं। कपिल के लिए भी वे महामुनि शब्द का प्रयोग कर अपना आदर भाव प्रकट करते हैं।

32 विभिन्न विरोधी दार्शनिक विचारधाराओं में किस प्रकार संगति स्थापित की जा सकती है इसका एक अच्छा उदाहरण उनका यह ग्रन्थ है।

12वीं शताब्दी के प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र ने भी ऐसी प्रकार धार्मिक सहिष्णुता और उदारवृत्ति का परिचय दिया है। उन्होंने न केवल भगवान् शिव की
स्तुति में महादेवस्तोत्र की रचना की, अपि तु शिवमंदिर में जाकर शिव की वनना करते हुए कहा- जिसने संसार परिप्रेक्षण के कारण भूत राग-देश के तत्वों को क्षीण कर दिया है, उसे मैं प्रणाम करता हूँ। चाहे वह ब्रह्म हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन। जैनों की इस धार्मिक उदासी का एक प्रमाण यह भी है कि महाराजा कुमारपाल और विष्णुवर्धन ने जैन होकर भी शिव और विष्णु के अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया और उनकी व्यवस्था के लिए भूमिदान किया। कुमारपाल के धर्मगुरु आचार्य हेमचन्द्र ने न केवल उसकी इस उदासी को प्रोत्साहित किया अपि तु शिवमंदिर में स्वयं उपस्थित होकर अपनी उदासी का परिचय भी दिया। हेमचन्द्र के समान इस उदासी परस्पर का निर्वाह अन्य जैनाचार्यों ने भी किया था, जिसके अभिलेखीय प्रमाण भी आज उपलब्ध होते हैं। दिगम्बर जैनाचार्य रामकीर्ति ने तोकलजी के मंदिर के लिए और वेदवाचार्य आचार्य जयमंगलसूरी ने चापुण्डा के मंदिर के लिए प्रशंसक-काय किये। उपाध्याय यशोविजय की धार्मिक सहिष्णुता का उल्लेख हम पूर्व में कर ही चुके हैं। उनका यह कहना कि- माध्यम या सहिष्णु भाव ही धर्मवाद है- धार्मिक सहिष्णुता का मुद्रालेख है। इसी प्रकार, जैन रहस्यवादी सत्तवी आनन्दण भी कहते हैं -

श्रद्धांजलि जिन अंगभणीजे न्यायष्ठां जे साध्ये रे।
नमंजिनवना चरण उपासक श्रद्धांजलि आर्ये रे।

अर्थात् सभी दर्शन जिस के अंग हैं और उपासक सभी दर्शनों की उपासना करता है। जैनों की यह उदासी और सहिष्णुवृत्ति वर्तमान युग तक यथार्थत: जीति है। आज भी जैनों की सर्वप्रिय प्रार्थना का प्रारम्भ इसी उदासी भाव के साथ होता है -

जिसने रागद्रेश कामाक्षिक जीते, सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का, निस्पुह हो उपदेश दिया।
बुद्ध वीरं जिन हरि हर ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो।
भक्तिपाव से प्रेरित हो, यह चित्त उसी में लीन रहो।

वस्तुतः यदि हम विश्व में शान्ति की स्थापना चाहते हैं, यदि हम चाहते हैं।

धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म: 28
किन मनुष्यों-मनुष्यों के बीच घृणा और विद्वेष की भावनाएं समाप्त हों और सभी एक दूसरे के विकास में सहयोगी जरूर, तो हमें आचार्य अभियोगति के निम्न चार सूत्रों को अपने जीवन में अपनाना होगा। वे कहते हैं–

सत्चेषु मैत्री गुणीपु प्रमोदं, क्वः श्रीवेषु कृष्णपत्तिः।
माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तः, सदा ममत्ता विद्धातू देव।

हे प्रभु प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव, गुणीजनों के प्रति समादर भाव, दुःख एवं पीड़ित जनों के प्रति कृपा भाव तथा विरोधियों के प्रति माध्यस्थ भाव- समता भाव मेरी आत्मा में सदैव रहें।

धार्मिक सहिष्णुता और जीन्तव्य: 29
खण्ड-खण्ड होती मानवता
-डॉ. सागरमल जैन

स्वार्थवादिता के चोगे में, 
मानव की मानवता कहीं खो गई है।
तभी तो वह युगों से
अपने आपको खण्ड-खण्ड में
विभाजित करता रहा है।
पहले अपने को देश और प्रदेश की
सीमाओं से बौटा,
फिर प्रजातियों का भेद दिखाकर,
काले और गोरे के रंगभेद पर,
आयर्व और अनायर्व में बौटा।
एक ने अपनी सभ्यता का दावा कर
dूसरे को असभ्य और असंस्कृत बताया।
फिर हमने ही वर्ण-व्यवस्था के नाम पर
उसे एक को दूसरे से काटा।
ब्राह्मण श्रेष्ठ और शूष्क नेष्ट कहकर
मानवता के मुख पर मारा-चाँटा।
फिर वर्णसंकल्पना ने अपना रूप दिखाया।
जातियों के नाम पर यह भेद और गहराया
जातियों के आधार पर धन्ये भी बूंट गये,
कुशलता और योग्यता के मापदण्ड नकार
dिये गये।
वर्ण और धन्ये को कर्मणा थे,

वंशानुगतता के स्वार्थवाश
सभी जनमता मान लिये।
स्वार्थवादिता या भाई भतीजावाद के
इस चक्र में,
वर्णवाद और जातिवाद
पुष्ट होता चला गया,
मानवता खण्डित हो
सिसकिएँ ही भरती रही।
आज भी तो यही हो रहा है,
स्वार्थवादिता और
वोट बैंक की राजनीति में,
जातिवाद पुष्ट हो रहा है
कहीं धर्मवाद है
tो कहीं राष्ट्रवाद है
kिन्तु ये सब,
मानवता को मृत करने
की साबित मात्र हैं।
यदि स्वार्थवाद के चोगे में
यही सब होता रहा,
tो मानव की मानवता
मरती रहेगी, और
yदि मानवता मर गई
tो फिर मानव भी नहीं बचेगा।
स्वार्थवादिता का यह शैतान
मानव को मार कर ही,
दम लेगा।
लेकिन यदि मानवता जी गई
tो वह स्वार्थवादिता के शैतान को
मार कर ही दम लेगी।

धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म: 30
सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. आया ने अज्जो सामाईए, आयाने अज्जो सामायस्स अट्टूँ-भगवती, 1/9
2. समियाए धम्मे आरिएहिं पवेल-आचाराङ्ग, 1/8/3.
3. धर्म जीवन जीने की कला-पृ. 7 एवं 8
4. योगदृष्टिमुच्यय, 138
5. आचाराङ्ग, 1/4/2.
6. योगदृष्टिमुच्यय, 13/4
7. पाण्डजीवा पाण्डा कम्भ्य शाणाविंहं हवे लिंंृ
तम्हा वर्ण विवादं सगपरसमाधि विकाजा।-नियमसार, 155
8. एवाई मिच्छेदिनिदृस्तम मिच्छेत परिगहियां मिच्छास्सुःं ए्याणि चेव
सम्मदिनिदृस्तम सम्मतत्वपरिगाहियां सम्मस्सुःं मिच्छदिनिदिस्यसः अहवा
वि सम्मस्सुःं कम्भा ? सम्मत हेउतनाः जम्मा ते मिच्छदिनिदित्वा
तेहिं चेव सम्मस्सुःं चोिया सम्मणा केह सपक्षदिनिद्रुत्ताच चयंति से तं
मिच्छास्सुःं। न्यत्तिसृतः 72
9. (अ) भगवती-अभयदेवकृत वृत्ति, 14/7 पृ. 1188
(ब) मुखमणग पवनां सिनेहो वञ्जसिहल्या।
वीरे जीवनाते जाओ गोयम ज न केवलि।।
-उद्दृत्र कल्पसूः टीका विनयविज्ञय, पृ. 120
10. सम्मतं चेदिच्छेत, समामिच्छतमेव य।
ए्याओ तिल्लिपिहीओ मोहणिजन्जस्स दंगेण।।
-उत्तराध्ययन 33/9
11. उत्तराध्ययन, 25/31-32
12. सूद्रकृतांग, 1/1/2/23
13. सम्पत्तिक्रप्करण, 3/69
14. उत्तराध्ययनमूः, 36/49
15. सम्मोदसत्तृषी, 2
16. उपदेशातार्किणी, 1/8

धार्मिक सहिष्णुता और जैनवर्तमान: 31
17. तत्त्वज्ञानीय, 140
18. महादेवस्त्रोत, 44
19. योगदर्शिकमुच्य, 130
20. उत्तराध्ययनसूत्र, 23/25
21. तत्त्वसंग्रह, 3588
22. अनन्तदर्शिकमेव तत्त्वम्, 22-अन्ययोगव्यवस्थालार्थितिका, हेमचंद्र
23. नयहिंहिंहूं सुतं अत्थो य जिनवये किंवि-आवशयक नियुक्ति, 544
24. सम्मातितर्क, 1/28
25. सच्चे समयंति समम् चेगवसागो नया विरूर्वा वि।
मिच्च ववहारिणो इव, राजादानीण वसवत्ती॥ -विशेषां. भाष्य, 2267
26. अध्यायोपनिषद्-यशोविभोज 61, 70, 71, 73.
27. अरहता इसिणा बुद्धं- इसिभासियाः 1.
28. एवमेव उ पास्त्या ते वृज्ञो विपङ्गलभ्या।
एवं उद्ग्रिश्रां संता र ते दुक्क्विमोक्षया॥
-सूत्रकृतांग, 1/2/31-32
29. आचारांग, 2/1/5/29
30. हें खंडया ! सागयं, खंडया ! सुसागयं-भगवती, 2/1
31. उत्तराध्ययन अध्याय 23
32. देखें- शास्त्रवार्तामुच्य, 3/206, 3/237, 6/64-67
डॉ. सागरमल जैन

जन्म तिथि : वि. 22.02.1932
जन्म स्थान : शाजपुर (म.प.)
शिक्षा : साहित्यकर्म : 1954
एम.ए. (सर्वश्रेष्ठ) : 1963
पी-एच. डी. : 1969


लेखन : 30 पुस्तकें, 25 लघु पुस्तिकाएँ
सम्पादन : 150 पुस्तकें
सम्पादक : जैन विद्या विश्वकोष (पाश्चात्य विद्यापीठ की महत्वाकांक्षी परियोजना) 'भरण हैमासिक शोध पत्रिका'


सदस्य: अकादमिक समिति: विद्वत तरंग, भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल जैन विश्वभारती संस्थान लांडनु।
मानद निदेशक, आगम, अहिस्ता,
समाता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर।

संप्रति विदेश भूमि

प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन परस्पराधिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्या पीठ, शाजपुर आगरा–लुब्बई राज्य राजमार्ग पर स्थित इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ–साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म आदि के ल गमन 12,000 तुर्कम ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी है। यहाँ 40 पत्र पत्रिकाएँ भी निर्मित आती है।